

27.3 प्रगतिवादी आलोचना तथा आधुनिकतावादी आलोचना दृष्टि

हिंदी साहित्य में प्रगतिशील आदोलन की शुरूआत 1936ई0 के आसपास हो गई थी। इसी के कुछ समय बाद रचनात्मक साहित्य में प्रयोगशीलता के उदाहरण कविताओं में दिखाई पड़ने लगे थे। कुछ आगे चलकर इनका दृष्टिकोण 'तारसप्तक' में संकलित कवियों के कवि-वक्तव्यों के माध्यम से सामने आया, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि साहित्य के प्रति रचनाकारों में, चली आती परम्परा से टकराकर 'नयी राहों के अन्वेषण' की ललक पैदा हो गई है। पर इन दोनों प्रवृत्तियों का सुविंतित वैधारिक स्वरूप निर्मित होने में कुछ समय लगा।

दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति और स्वाधीनता प्राप्ति के बाद एक और मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिशील आलोचकों ने और दूसरी और प्रयोगशील और नए कवियों और उनके पाठक-आलोचकों ने आलोचना की बागडोर रॉमानी। इस प्रसंग में यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रगतिशीलों और प्रयोगशीलों के बीच यह विभाजन 'तारसप्तक' के प्रकाशन काल तक उतना स्पष्ट नहीं था। 'तारसप्तक' में संकलित कवियों के नाम इसका प्रमाण है।

परिवर्तन के इस लम्बे दौर में एक बात ध्यान देने की यह है कि लगभग एक दशक तक आलोचना की शब्दावली मूल्यकेंद्रित रही। जो जिस रूप में है, उसमें परिवर्तन आवश्यक है - इस ज़रूरत पर प्रगतिशील और नयी-आलोचना, दोनों ने अपने अपने ढंग से बल दिया। दोनों के रास्ते और तर्क अलग थे। पर प्रेणा दोनों ने मुख्य रूप से पश्चिम के विचारकों से ली - यह कार्ल मार्क्स और एंगेल्स से चली आती परम्परा हो या टी.एस. इलियट, एजरा पाउर्ड, टी.ई. ह्यूम आदि रचनाकारों और उनके समर्थन-विरोध से विकसित होने वाली आलोचना-पद्धतियों हों।

आगे चलकर दोनों में यह अंतर ज़रूर हो गया कि मार्क्सवाद की सैद्धांतिकी आयात करने पर भी बिना जनाधार और मानववादी दृष्टिकोण के उसका व्यवहार संभव नहीं था, अतः उसका विश्वसनीय चरित्र जातीय तत्वों के आधार पर ही निर्मित किया जा सकता था। विद्यारथ्यात्मक कठमुल्तेपन के कारण आरंभ में साहित्य को सतही तौर पर प्रगतिवादी बनाम प्रतिक्रियावादी खानों में ढालकर देखने की प्रवृत्ति ज़रूर दिखाई पड़ी, पर रामविलासं शर्मा तक आते-आते प्रगतिशील आलोचना का जातीय चरित्र निर्मित हो गया। उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टि से हिंदी साहित्य की परम्परा की पुनर्व्याख्या की - आदिकाव्य से

अपने समकालीन साहित्य तक। मार्क्सवाद के प्रति निष्ठा उनके आलोचक-कर्म के आडे नहीं आई। उनका मानना था : 'साहित्य भी शुद्ध विचारधारा का रूप नहीं है, उसका भावों और इन्ड्रिय-बोध से घनिष्ठ संबंध है। इससे स्पष्ट है कि ललित-कलाओं को विचारधारा के रूपों में गिनना सही नहीं है।' उन्होंने अपनी आलोचना के लिए जिन्हें विचार बनाया, वे हिंदी की ठेठ जातीय-परम्परा के प्रतिनिधि हैं - भारतेंदु, प्रेमचंद्र, रामचंद्र शुक्ल और निराला।

आलोचना के शुक्लजी विरोधी भाषीत में, उनके बारे में रामविलास शर्मा की टिप्पणी देखने साधक है : 'उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामंती संस्कृति का विरोध किया, जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचंद्र और निराला ने। शुक्लजी ने न तो भारत के रुदिवाद को स्वीकार किया, न पश्चिम के व्यक्तिवाद को। उन्होंने बाह्य जगत और मानव-जीवन की वास्तविकता के आधार पर नए साहित्य-सिद्धांतों की स्थापना की और उनके आधार पर सामंती साहित्य का विरोध किया और देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परंपरा का समर्द्धन किया।'

रामविलास शर्मा ने शुक्लजी की विरोधी पंरपरा का विकास तो किया पर मीलिक साहित्य-सिद्धांतों की सृष्टि वे भी नहीं कर सके। उनके आलोचना-कर्म का धरम उत्कर्ष 'निराला की साहित्य-साधना' में दिखाई पड़ा। यह मात्र संयोग नहीं है कि डॉ० शर्मा ने पहली बार 'करुणा' को निराला के मूल भाव के रूप में रेखांकित करते हुए उन्हें ट्रैडेंडी के महान लेखकों की पश्चिमी पंरपरा से जोड़, वालीकि, भवभूति और तुलसी की भारतीय पंरपरा से नहीं। यूं शुक्लजी भी अपने ढंग से करुणा का महत्व निरूपण पहले कर चुके थे।

प्रगतिशीलों में कवि-आलोचक मुक्तिबोध ने संपूर्ण कला-सिद्धांत की रूपरेखा देने की कोशिश की। आरभ उन्होंने 'कामायनी' की वर्ग-दर्शन पर आधारित पुनर्व्याख्या से किया। पर बाद में उनकी आलोचनात्मक कृतीय अपनी ही रचना-प्रक्रिया के आल्पसजग-मिश्लेशन की उपज होकर रह गई। उनकी 'फेटी' की व्याख्या या लंबी नाटकीय कविता के रचना-विन्यास में निहित सिद्धांत का उद्घाटन उनकी अपनी या फिर उसी काट की कविताओं को समझने-समझाने में तो कारगर हो सकता है, पर उससे कोई व्यापक काव्य-सिद्धांत उभरकर सामने नहीं आता।

नामवर सिंह ने भी आरभ 'छायावाद' की व्यावहारिक समीक्षा से किया। उनकी पहली रचना ने ही इसलिए सहसा आकर्षित किया उयोंकि उसमें उन्होंने छायावादी कविता के छाया-वित्रों में निहित सामाजिक सत्य का उद्घाटन करने का प्रयत्न किया था। इससे मार्क्सवादी आलोचना का रचनात्मक 'और परिष्कृत रूप सामने आया। काव्य के प्रतिमानों का प्रश्न उन्होंने आगे घलकर 'कविता के नए प्रतिमान' में उठाया। यह प्रश्न उनसे पहले नयी कविता के आलोचना लंबीकैफ़न वर्मा और पंचि धर्मवीर भारती भी उठा चुके थे। पर वर्मा जी प्रतिमानों से ज्यादा प्रतिमानों के सदर्म या-नी 'नयी कविता' की व्याख्या के सवाल को लेकर व्याकुल दिखाई पड़े और भारती में उस समय की प्रमुख विचारधारा 'अस्तित्ववाद' की अनुगृज सुनाई पड़ी।

नामवर सिंह ने पंरपरा से प्रतिचित्र प्रतिमानों की प्रासंगिकता पर भी विचार किया और नयी कविता के संदर्भ में काव्य-मूल्यों का प्रश्न भी उठाया। अत्यंत व्यसात्मक शीती में उन्होंने 'दैवकितक और आल्पपरक छायावादी सरकारों से गढ़े गए' प्रतिमानों को बर्खास्त किया। पर आल्पपरक कविता के दायरे से बाहर निकलकर जो प्रतिमान उन्होंने प्रस्तावित किए, उन पर पश्चिम की रूपवादी आलोचना का गहरा प्रभाव है। उन्होंने जो सवाल उठाए उन पर पश्चिम की 'नयी आलोचना' में विचार किया जा चुका था। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली और उससे पुढ़ी अवधारणाएँ मीलिक भले ही न हो, पर उन्हें इस बात का श्रेय देना होगा कि उन्होंने हिंदी की नयी कविता के संदर्भ में उसे बीच से पैदा होने याते काव्य-मूल्यों के प्रश्न को बड़े पैमाने पर अत्यंत विचारोत्तेजक रूप में उठाया। मुक्तिबोध की कविता 'अधेरे में' की समीक्षा करके उन्होंने इन प्रतिमानों की व्यायाहारिकता सिद्ध की। अन्य प्रगतिशील आलोचकों में शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय, रामेश राष्ट्रवाल का उत्त्सरेख किया जाता है। परंतु हन आलोचकों ने भी हिंदी-आलोचना को कोई ऐसी संदोक्षिकी नहीं दी, जिससे उसकी कोई अलग पहचान बन सके। इनमें आपसी विचार भी कम नहीं हुए। पर इनकी अधिकश़ि समीक्षा या तो मार्क्सवादी सिद्धांतों का प्ल-समर्थन करने के लिए लिखी गई या उन्हें व्यावहारिक रूप देने के लिए।

संक्षेप में प्रगतिशील और प्रवोगशील प्रवृत्तियों का आभास तो हिंदी साहित्य में 1940 ई० के आसपास ही मिलने लगा था किंतु एक निश्चित प्रवृत्ति के रूप इनका स्वस्य स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद ही

संगठित होकर उभरा। मार्क्सवादी विचारधारा' प्रगतिशील आलोचना का आधार थी। पर मार्क्स-एंगिल्स की वैचारिक-परेपरा को आयातित करने के बावजूद जिन रचनाकारों-आलोचकों ने हिंदी आलोचना को जातीय रूप दिया उनमें सबसे प्रमुख नाम रामविलास शर्मा का है। उन्होंने साहित्य की सम्बी परेपरा की मार्क्सवादी व्याख्या जरूर की पर उनकी आलोचना के प्रमुख विवर ये ही रचनाकार रहे जो हिंदी की ठेठ जातीय परेपरा का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने शुक्लजी की विरासत और जनवादी परेपरा का विकास तो किया पर कोई नई सिद्धांत-सृष्टि नहीं की। शुक्लजी भी उन्हें इसलिए महत्वपूर्ण लगते थे कि उन्होंने 'देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परेपरा का समर्थन किया।'

शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना

प्रगतिशीलों में मुक्तिबोध ने संपूर्ण कला-सिद्धांत की रूपरेखा प्रस्तुत करने की कोशिश की परंतु उनकी कृतियों में भी अपनी ही रचना-प्रक्रिया का आत्मसजग विश्लेषण ही अधिक दिखाई पड़ा और उनका 'फैन्टेसी' विवेचन और लम्बी-कविताओं के रचना-विन्यास संबंधी विचार भी उनकी अपनी कविताओं को समझने में कारगर हुए कोई व्यापक आलोचना-सिद्धांत प्रस्तुत करने में नहीं।

नामवर सिंह की छायावादी कविता की व्याख्या में मार्क्सवादी आलोचना का परिष्कृत और रचनात्मक रूप जरूर सामने आया पर नयी कविता के मूल्यांकन के लिए उन्होंने जो प्रतिमान प्रस्तावित किए, उन पर पश्चिम की रूपवादी आलोचना का गहरा प्रभाव है। उनका महत्व नई कविता के संदर्भ में काव्य मूल्यों के प्रश्न को बड़े पैमाने पर उठाने के कारण है।

शुक्लोत्तर आलोचना से, विशेष रूप से पवास के बाद की हिंदी आलोचना से परिवर्तोन्मुक्तता की शिकायत बढ़ी है। इसका एक कारण तो यह है कि यह परमुखापेक्षिता रचनात्मक साहित्य में भी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक दिखाई पड़ती है। आठवें दशक के अंत में रमेशचंद्र शाह ने : 'पराधीन कल्पना : एक सृष्टि' शीर्षक अपने लेख में इस 'सर्वग्रासी आत्महीनता' की 'बुनियादी खोट' को झँकने की कोशिश की है।

दरअसल यह प्रश्न ठेठ औपनिवेशिक मानसिकता का है। जिनकी पराधीनता हमारे लिए विरोध और विद्रोह का कारण होती है उनका राजनीतिक-आर्थिक वर्धस्व हमारे अवघेतन में हीनता ग्रथि पैदा करता है। उनकी श्रेष्ठता का विश्वास हमारे भीतर गहरे घर किए रहता है। इसलिए अनजाने ही वे हमारे मॉडल हो जाते हैं और स्वाधीन होते ही हमें उस सबका अनुकरण करने में गर्व की अनुभूति होने लगती है जिसका हम कभी आत्मभिमान के कारण विरोध करते थे। वैचारिक स्वराज के लिए उतने ही दृढ़ संकल्प और संघेत प्रदर्शन की जरूरत होती है, जितनी राजनीतिक स्वाधीनता के लिए।

रचना और आलोचना - दोनों के स्तर पर इस आयात के बारे में, उसकी दैसी जमीन के बारे में बराबर सवाल उठाया गया है। हिंदी नाटक में विसंगत (एक्सर्ट) प्रयोगों पर विचार करते हुए नेमिंद्र जैन ने कहा था : 'सवाल यह नहीं है कि इसान की नियति के बारे में ये विसंगतिवादी निष्कर्ष गलत है या सही, सवाल यह है कि क्या ये आज हमारे अपने अनुभव की उपज है? मेरा विचार है कि हमारे अपने सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा वैचारिक दार्शनिक इतिहास के संदर्भ में ये आरोपित और अयथार्थ हैं और एक प्रकार की आयातित बीदिक मुद्रा को सूचित करते हैं।'

दरअसल दिक्कत आयातित विचार से ज्यादा इसी आयातित बीदिक मुद्रा की है। यह मुद्रा अलग-अलग ढंग से, अलग-अलग आलोचकों में भी अपने को घरितार्थ करती रही है। इसका सबसे फूहड़ रूप होता है 'नेम द्वापिंग' यानी घलते-घलते पाठक पर रीब गालिब करने के लिए कुछ भारी-भरकम या अद्यतन विदेशी नामों का उल्लेख करना। प्रतिमायान आलोचक ऐसे प्रभावों को आत्मसात किए बिना ग्रहण नहीं करते, जबकि मंद प्रतिमा यात्रों में यह सतह पर झालकता रहता है। मुख्य बात यह है कि बाहर से लाया गया विचार हमारी अपनी परिस्थिति में कहाँ तक ग्राह्य और स्वीकार्य होता है। शर्त अंतर्राष्ट्रों में घुलावट की होनी घाहिए। 'नयी कहानी' के दो आलोचकों नामवर सिंह और देवीशकर अद्यस्थी की आलोचना में यह अंतर साफ़ दिखाई पड़ता है। देवीशकर अद्यस्थी की आलोचना विदेशी प्रभावों और अंग्रेजी भाषा के सम्मान के बड़ी लाधार हो जाती थी।

रचनाकारों में अज्ञेय भी बराबर इस आरोप को झेलते रहे। पर विदेशी प्रभाव को ग्रहण कर, अपना बना लेने का उनका अपना अंदाज़ था। इसके अलावा उनमें एक और बेदैनी भी थी, अपनी थाती टटोलने, अपनी जड़ों की मज़बूती की थाह लेने और उनकी तरफ लौटने की। इसी बेदैनी ने उन्हें यह कहने के लिए प्रेरित किया कि 'यदि छायावादी आदोलन की एक प्रेरणा हिंदी कवि द्वारा शैली और कीट्स का 'आविष्कार था, तो यूरोप के रोमांटिक आदोलन की एक प्रेरणा यूरोपीय कवि द्वारा कालिदास का आविष्कार था।'

हिंदी आलोचना

अज्ञेय ने अपने ढंग से छायावादी काव्य-सिद्धांत के विरोध में नयी कविता का सीदर्दयशास्त्र निर्मित करने का प्रयास किया। फ्रायड और एडलर के मनोविश्लेषणवाद के आरंभिक प्रभाव को उन्होंने आगे चलकर छोड़ दिया और नयी कविता से जुड़े अनेक सवालों का उत्तर तलाशते हुए नई आलोचना की भाषा तैयार की।

हिंदी आलोचना में कुछ अवधारणाएँ ऐसी थीं, जिनको सुविधापूर्वक परिचय की देन स्वीकार कर उनके पारंपरिक मूल विशेष आग्रहों के तहत खोजकर निरिखत कर दिए गए थे। ऐसी कुछ अवधारणाओं के परंपरागत मूल का प्रश्न नामवर सिंह ने 'दूसरी पंखरा की खोज' में उठाया। इनमें से एक प्रश्न 'सीदर्द' की अवधारणा और सोंदर्द-बोध के पारंपरिक विकास का था और दूसरा 'भारतीय संस्कृति' की विशुद्धता का, जो आज भी बहस-तलब है। ये सवाल सांस्कृतिक विरासत, साहित्यिक रूपि के विकास और प्रतिबद्धता की पहचान से तात्पुक रखते हैं।

सारोंश में, शुक्लोत्तर आलोचना में, विशेषकर पथास के बाद की आलोचना के बारे में परिचयमोन्तुष्टता की शिकायत अक्सर की जाती रही है। दरअसल इसका एक कारण औपनिवेशिक मानसिकता है। आलोचना के परिचयमी सरोकारों और अवधारणा के आयात का एक कारण यह भी रहा कि स्वयं रघनाओं पर भी यह प्रभाव कम नहीं रहा। इसे स्वयं हिंदी के आलोचकों ने निजी अनुभव न मानकर एक प्रकार की आयातित बौद्धिक मुद्रा कहा है। यह मुद्रा सभी आलोचकों में समान रूप से हो ऐसा नहीं है। प्रभाव तो अधिकांश रघनाकारों और आलोचकों पर है पर जहाँ यह अंतर्तत्वों में घुलकर आत्मसात कर लिया गया है, अपना बना लिया गया है वहाँ बात दूसरी हो जाती है। आलोचकों में नामवर सिंह और रघनाकारों में अज्ञेय ने यह प्रभाव इसी खूबी से अपना लिया। इसके अलावा इनमें अपनी जड़ों की तरफ वापिस लौटने की या उनके जातीय संस्करण या मूल तलाश करने की बैठीनी भी अपनी जगह है। इसीलिए इनके प्रमुख सरोकारों में छायावादी काव्य-सिद्धांत के विरोध में नयी कविता का 'सीदर्दयशास्त्र निर्मित करना और नयी आलोचना की भाषा तैयार करना भी रहा है।